

30 अक्टूबर, 2007 को जामिया मिलिया इस्लामिया के वार्षिक दीक्षांत समारोह में भारत के माननीय उपराष्ट्रपति का दीक्षांत भाषण

30 अक्टूबर, 2007
नई दिल्ली।

देवियो और सज्जनो,

पेशे से कूटनीतिज्ञ, आचार-व्यवहार से शिक्षाविद् और संभवतः भाग्य से राजकीय पद पर आसीन व्यक्ति को न केवल विश्वविद्यालय के शैक्षिक कैलेंडर के इस शानदार अवसर पर शामिल होने के लिए बल्कि श्रोताओं के साथ अपनी विचार प्रक्रिया के खालीपन को बांटने के लिए भी बुलाया गया है। मेरे विवेक ने इसमें शामिल न होने की सलाह दी होगी; तथापि जामिया के साथ कायम मेरे जुड़ाव ने मुझे अनजान लोगों में आने का साहस करने का बड़ा कदम उठाने के लिए प्रेरित किया।

कुछ सप्ताह पूर्व, जब मैं अपने अध्ययन कक्ष में किताबों को सलीके से लगाने की कोशिश कर रहा था तो मुझे अपने एक पुराने अध्यापक, सैयद मोहम्मद टोंकी द्वारा जामिया मिलिया इस्लामिया के संस्थापकों पर लिखी गई एक छोटी सी पुस्तक मिली। इसमें एक ग्रहण करने योग्य टिप्पणी है:-

"जामिया की एक हैसियत तहरीक की है और दूसरी एक इदारे की। तहरीक में वुस-अते-अमल-ओ-फिक्र और एक तरह की हमागिरि होती है; इदारा महदूद दायरे में रहकर खास हालात के मद्देनजर काम करता है और अपनी बका के लिए समेटता और फ्रिक-ओ-अमल को समेटता है।" पहली शख्सियत ने दूसरी शख्सियत बनाई; इतना कुछ करने के बाद, दूसरी शख्सियत से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने पूर्वज के बैनर को आगे लेकर जाए। यह मामले का एक पहलू है। तथापि, मेरा आज का उद्देश्य पहली शख्सियत की कुछ अनकही मूल बातों की इस आशा के साथ जांच करना है कि हो सकता है ये बातें भारत और विदेश में मुस्लिम विचारकों को परेशान करने वाले प्रश्न पर प्रकाश डालें अर्थात् समुदाय की सामाजिक और राजनीतिक जिंदगी की अपनी सभी धाराओं के साथ परंपरा और आधुनिकता के बीच सामंजस्य कायम हो सके।

यदि सर्वाधिक स्पष्ट अर्थों में लिया जाए तो जामिया की स्थापना प्रथम विश्व युद्ध के तत्काल बाद के समय के संदर्भ में अलीगढ़ की राजनीतिक अनुकूलता के विरोध-स्वरूप हुई थी। मौलाना महमूद हसन साहेब ने इसे हुकूमत-ए-वक्तिया की परस्तिश कहा था। यह विरोध दिखाना-मात्र नहीं था और यह अकस्मात नहीं हुआ तथा यह समाज के कुछ लोगों तक ही सीमित नहीं था।

इसके बजाए, यह उस मूल स्थिति से उत्पन्न हुआ जिसके अन्तर्गत यह माना गया कि संस्थापित राजनीतिक सत्ता अनुचित है। क्या विरोध इससे आगे भी गया? यदि हां तो यह कहां तक गया और इसमें सार-तत्व क्या था? सन् 1938 में डा. जाकिर हुसैन के एक निबंध ने जामिया के प्राथमिक उद्देश्य के सम्बन्ध में अपने प्रत्यक्ष ज्ञान पर प्रकाश डाला:-

'जामिया का सबसे बड़ा मकसद यह है कि हिंदुस्तानी मुसलमान की आइंदा जिंदगी का ऐसा नक्शा तैयार करे जिसका मरकज़ मजहब-ए-इस्लाम हो और उसमें हिंदोस्तान की कौमी तहज़ीब का वो रंग भरे जो आम इंसानी तहज़ीब के रंग में खप जाए।'

इसमें मुख्यतः इस बात पर बल दिया गया था कि आस्था की आवश्यकता और अत्यंत व्यापक रूप में भारतीय सांस्कृतिक पहचान को विकसित करने के बीच देखे गए द्विभाजन को चुनौती दी जाए। जाकिर साहब यह मानते थे कि जामिया बिरादरी के जहन में इस लक्ष्य की तस्वीर थोड़ी-थोड़ी धुंधली है। जामिया में कुछ अन्य व्यक्ति भी यही बात कहते थे। आबिद हुसैन ने एक ऐलुमनी बनाने का आग्रह किया जोकि "इंसान-ए-कामिल, सच्चा मुसलमान और पक्का हिन्दुस्तानी" हो। संभवतः इसकी पृष्ठभूमि में सैयद अहमद खान के अमल-ए-सलाह (सत्कर्म) की संकल्पना की गूंज थी। इस पर आगे और तर्क-वितर्क करते हुए मोहम्मद मुजीब ने भारतीय एकता के बोध के स्रोतों पर विचार किया। 1962 में लिखे गए उनके निम्नलिखित अवबोधन की साढ़े चार दशकों से अधिक समय के बीत जाने के बाद भी प्रासंगिकता बनी हुई है:

"हमारे बीच केवल तभी तक एकता बनी रह सकती है जब हम स्वयं अपने भीतर व्यक्तिगत रूप से अपने स्वभाव एवं रुचि के अनुसार एकता के प्रति अतिशय आवेग को बनाए रखें तथा जो हमारे उन अपकर्मों और उन गलतियों का नैतिक भार उठा सकें जोकि हमने की हैं। एकता के बारे में इस दृष्टिकोण को स्वीकार करना एक आध्यात्मिक प्रयास होगा और

यह केवल तभी सफल होगा जब हमारे इतिहास का एक हिस्सा बन चुकी हमारी धार्मिक परम्पराओं से सहारा तथा शक्ति मिले। राष्ट्र ने स्वयं को पंथ-निरपेक्ष घोषित करके प्रत्येक नागरिक को यह चुनौती दे दी है जिसके अन्तर्गत वह ऐसे संस्थागत धर्म से प्रेरित होकर नागरिक जीवन को समृद्ध बनाकर दिखाए।"

इस पर नागरिकों ने भिन्न-भिन्न तरीके से प्रतिक्रिया व्यक्त की। तथापि, भारतीयता का मूल प्रश्न तय अवश्य हो गया।

एक ऐसी समग्र पहचान को बनाने का उद्देश्य सिर्फ इतना था कि यह बहुल रूप में भारतीयता और मुसलमान होने को तथा समसामयिक भारत के लोकतांत्रिक एवं पंथ-निरपेक्ष लोकाचार को समाहित कर सके। इसके लिए रचनात्मक सोच की आवश्यकता है जोकि आधुनिक भारत की बदलती हुई स्थितियों पर ध्यान दे सके। इसे कार्य-योजना के रूप में बदलने का कार्य समसामयिक मुस्लिम सोच की मुख्य चुनौती है। ऐसे किसी प्रयास को रेखांकित करना परंपरा और आधुनिकता की दोहरी संकल्पनाओं के बीच का तनाव है। इन पर किस हद तक ध्यान दिया गया है?

इस संदर्भ में प्रोफेसर अकबर अहमद की टिप्पणी पर ध्यान दिया जाना चाहिए। उन्होंने 1992 में 'दि पोस्ट मॉडर्निस्ट ऐज इन दि नाइनटीन नाइटीज (1990s)' में लिखा कि, "मुस्लिम इज्तिहाद के दरवाजे को पीटना; मुसलमानों द्वारा शोर-शराबे को अपने जोखिम पर नजरअंदाज करना है। हालांकि, इससे पहले कि वह चरमराते हुए दरवाजे को खोलें, उन्हें इस युग की ताकत और फितरत को जरूर जानना चाहिए और इसके लिए उन्हें उसे अवश्य जानना चाहिए जोकि इसका प्रतिनिधित्व करते हैं।"

क्या यही प्रत्युत्तर के अकेले अपरिहार्य प्रतिरूप को सुझाता है। यदि हां, तो इससे मुस्लिम स्थिति की विविधता और प्रत्युत्तर के प्रतिरूपों की परिणामी जटिलता की अनदेखी हो जाती है। मुस्लिम जाति अपनी पारंपरिक सीमाओं से कहीं अधिक फैल चुकी है; मुसलमान मुख्य रूप से मुस्लिम बहुल समाज में रहते हैं और उसी के अनुरूप सोचते भी हैं, विरासत में मिले हुए इस मानदंड के भी अब विविध आयाम हो चले हैं। भारत, चीन और रूस के मुस्लिम समुदायों ने स्थानीय रूप से सुसंगत प्रत्युत्तर के प्रतिरूपों का विकास किया है। यह बात संयुक्त राज्य अमरीका और यूरोपीय संघ के सदस्य देशों के मुस्लिम समुदायों के बारे में भी सत्य है। इनमें से कोई भी दर्द से रहित नहीं है। इसलिए तारिक रमदान की यह टिप्पणी

समीचीन है कि जहां भूमंडलीकरण के कारण संदर्भ के पुराने पारंपरिक बिन्दु लुप्त हो गए हैं, इसके साथ-साथ यह शिखिसयत संबंधी आवेगात्मक स्वीकारोक्तियों को भी जागृत कर देता है। इसके परिणामस्वरूप, वह आगे लिखते हैं कि, पश्चिम में मुस्लिम समुदाय, "एक वास्तविक मौन क्रांति के दौर में जीवन-यापन कर रहे हैं"।

शिखिसयत संबंधी जागरूकता और इसका विकास करने की इच्छा मामले का एक अन्य पहलू है और इसे साकार रूप प्रदान करने की क्षमता मामले का दूसरा पहलू है। प्रोफेसर रमदान के अनुसार इसका एक तीसरा पहलू भी है, वह है शिखिसयत तथा पारस्परिक बौद्धिक विकास के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपने साथी नागरिकों के साथ प्रामाणिक संवाद करने के बीच संतुलन स्थापित करना। यहां पर अनुभव से प्राप्त साक्ष्य अतिमहत्वपूर्ण हो जाते हैं। इस चुनौती का व्यापक पैमाने पर उत्तर देने के लिए कितने प्रयास किए गए (जा रहे हैं)? सामुदायिक जीवन के कौन-कौन से क्षेत्रों की समस्याओं का समाधान किया गया? इसमें कौन-कौन सी अड़चनें आईं? इसमें कितनी सफलता मिली?

भारत में मुस्लिम समुदाय की सामाजिक, शैक्षणिक एवं आर्थिक स्थिति संबंधी सच्चर समिति की रिपोर्ट की बदौलत अब इन प्रश्नों के कुछ उत्तर उपलब्ध हैं। समिति ने विशेषतः समतामूलक प्रश्नों के बारे में 'प्रामाणिक जानकारी' एकत्र की और वह वंचन के परिमाण को तय करने में सफल भी हो गई। उसने रिपोर्ट में यह बताया "आरक्षण, रोजगार और सुरक्षा संबंधी मुद्दों के बाद अभ्यावेदनों (जो उसे दिए गए थे) में अक्सर शिक्षा के मुद्दे को उठाया गया।" इसमें राज्य की विफलता के क्षेत्रों की सटीक रूप से पहचान की गई है, उसके लिए अत्यावश्यक सुधारात्मक कार्ययोजना सुझाई गई है और यह सिफारिश की गई है कि "इसमें समग्र विकास पर अत्यधिक तेजी से ध्यान केन्द्रित किया जाना चाहिए और विविधता का सम्मान करते हुए समुदाय को 'मुख्यधारा' में शामिल किया जाना चाहिए।"

वंचन, बहिष्करण और भेदभाव के आधार पर राज्य द्वारा की गई गलती को राज्य ही सुधारेगा। यह कार्य यथाशीघ्र किया जाना चाहिए। इसमें राजनीतिक दूरदर्शिता और जनमत महत्वपूर्ण भूमिका निबाहते हैं। तथापि, इसकी एक अन्य त्रुटि भी है, यहां पर मैं, सामाजिक अवबोध के संबंध में समुदाय द्वारा स्वयं की प्रेरणा से किए गए उपाय की अपर्याप्तता का उल्लेख कर रहा हूँ। इसे किस रूप में लिया गया है? क्या भारतीय मुस्लिम की सोच में एक वास्तविक मौन की क्रांति का दौर चल रहा है?

फिरकाबंदी है कहीं और कहीं जातें हैं

क्या ज़माने में पनपने की यही बातें हैं?

यह स्पष्ट है कि समुदाय के महत्वपूर्ण वर्ग दुष्क्र और सांस्कृतिक रूप से रक्षात्मक मुद्रा में फंसे हुए हैं। परंपरा को पवित्रता बना दिया गया है जबकि परंपरा की तर्कसम्मता को बिल्कुल भुला दिया जाता है। जदीदियत या आधुनिकता एक बदनुमा अभिव्यक्ति हो गई है। इस तरह की मानसिकता आस्था की पुष्टि और समुदाय के कल्याण, दोनों के लिए आवश्यक आलोचनात्मक चिंतन को अवरुद्ध कर देती है। परिवर्तन के साथ समायोजन के साधन-इज्तिहद को यदि पूरी तरह से नजरअंदाज नहीं किया जाता, तो उसे आंखें जरूर दिखाई देती हैं। स्वर्गीय शेख अबुल हसन अली नदवी द्वारा परिभाषित उसके उद्देश्य को भुला दिया गया है कि, यह "जीवन की आवश्यकताओं के सतत् रूप से परिवर्तनशील प्रतिरूप के साथ संघर्ष करने की क्षमता है।" इसी प्रकार, अल गज़ली का मस्लाहा का क्षेत्र-धर्म, जीवन, बुद्धिमता, वंश और संपत्ति का संरक्षण-संबंधी वर्णन सामाजिक परिवर्तन पर ही मुख्य रूप से जोर देकर किए गए चिंतन के लिए व्यापक सैद्धांतिक स्थिति प्रदान करता है।

III

क्या मुख्य रूप से जोर देकर कोई ऐसा चिंतन किया गया है जिसके परिणामस्वरूप सुधारात्मक कार्रवाई हुई हो? कोई भी इस तरह के कुछ स्पष्ट उदाहरणों की संवीक्षा कर सकता है। सैयद अहमद खान दुखदायी परिवर्तन के इस युग की समस्याओं से वस्तुतः भली-भांति परिचित थे। उन्होंने इस विचार का विरोध किया कि इज्तिहद बिल्कुल भी जरूरी नहीं है: "हमें यह बात अवश्य ही याद रखनी चाहिए कि परिस्थितियां बदलती रहती हैं और हमारे सामने रोज-रोज नई समस्याएं और आवश्यकताएं पेश आती हैं। इसलिए यदि हमारे पास जीवित मुज्ताहिद नहीं होंगे, तो हम ऐसे मृत लोगों से कैसे उन प्रश्नों के बारे में पूछ सकते हैं जोकि उनके समय के जीवन के वास्तविक तथ्य नहीं रहे हैं। हमारे पास हमारे युग और समय का मुज्ताहिद अवश्य होना चाहिए।"

इसके बावजूद, वह अनुवर्ती कार्रवाई के बारे में शंकालु थे और अमल-ए-सालेह संबंधी उनकी संकल्पना व्यवहारिक समग्रता की अपेक्षा से रहित थी। इसी प्रकार डा. मोहम्मद इकबाल ने मुस्लिम समाजों में स्थिरता के तत्वों और परिवर्तन की आवश्यकता तथा प्रत्येक

पीढ़ी में इज्जिहद की परिणामी आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने कहा कि आधुनिक इस्लाम 'बौद्धिक स्वतंत्रता के स्वैच्छिक आत्मसमर्पण' से बंधा हुआ नहीं है:

तकलीद से नाकारा न कर अपनी खुदी को।

कर उसकी हिफ़ाज़त कि ये गौहर है या गाना।।

तथापि, व्यावहारिक शब्दों में इकबाल चेतावनी देते हैं, फजलुर्रहमान के शब्दों में उनकी दार्शनिक विरासत को अपनाया नहीं जा सका "क्योंकि राजनीति के क्षेत्र में अफवाह फैलाने वालों ने मोटे तौर पर उनकी बात का गलत अर्थ निकाला और इसका दुरुपयोग भी किया।"

ऐसे रवैये का एक अपवाद थे मौलाना आजाद, जिन्होंने इस्लाम के उच्चतम नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों को प्राप्त करने के लिए मानसिक पुनरुज्जीवन के पक्ष में और संकीर्ण न्यायशास्त्रीय विचार से हटने का समर्थन किया। जैसा कि मोहम्मद मुजीब ने कहा है, इस दृष्टिकोण को अपनाने का चुनाव करते समय वे 'बिलकुल अकेले खड़े थे' और किसी का समर्थन नहीं जुटा सके।

इसके परिणामस्वरूप, और सामाजिक पिछड़ेपन की अत्यधिक मात्रा के बावजूद, इसे समाप्त करने के सामुदायिक प्रयास उलझनों से भरपूर और अपर्याप्त रहे हैं।

हमें इस स्थिति को इसकी सम्पूर्णता में देखना होगा। आज भारत में मुसलमानों की संख्या लगभग 150 मिलियन है और यह भारतीयों का एक बहुत बड़ा भाग अर्थात् 13.4 प्रतिशत बनता है। इस जनसंख्या के 51.9 प्रतिशत भाग की आयु बीस वर्ष से कम है और 60.6 प्रतिशत की आयु पच्चीस वर्ष से कम है। देश के किसी भी सामाजिक समूह की तुलना में मुसलमानों में लड़कों और लड़कियों का अनुपात सबसे अधिक है, अर्थात् प्रत्येक 1000 लड़कों की तुलना में 986 लड़कियां। आम आबादी की तुलना में वे शहरों में अधिक केन्द्रित हैं। दूसरी ओर 65.1 के राष्ट्रीय साक्षरता दर की औसत की तुलना में मुसलमानों में साक्षरता दर 59.1 है; महिला साक्षरता के मामले में यह दर और भी कम है। 40.7 प्रतिशत मुसलमान अन्य पिछड़ा वर्ग में आते हैं (देश की कुल 'अन्य पिछड़ा वर्ग' आबादी का 15.7 प्रतिशत) और उनका एक छोटा भाग अनुसूचित जाति वर्ग में है। शहरी मुसलमानों में गरीबी शहरी अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों में गरीबी से कहीं अधिक है; अन्य पिछड़ा वर्ग से भी अधिक है और राष्ट्रीय औसत का लगभग दुगना है। ये आंकड़े सामाजिक गतिहीनता से

उत्पन्न सामाजिक असंतुलन को ठीक करने की अत्यावश्यकता के संदर्भ में स्थिति का स्वतः बखान कर दते हैं।

विविध प्रकार की चुनौतियों के संदर्भ में क्या प्राथमिकता संभव है या वांछनीय भी है? क्या शिक्षा सामाजिक सुधार से पहले होनी चाहिए या उसके बाद? क्या शारीरिक सुरक्षा के लिए खतरों या बहिष्कार के स्पष्ट लक्षणों के कम होने तक दोनों को प्रतीक्षा करनी होगी? समकालिक समानुपातिक प्रगति के लिए सामूहिक दृढ़ता किस प्रकार से सृजित की जाए?

इसका क्या उपाय है? हाल के इतिहास और प्रचलित अनुभव को ध्यान में रखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि निम्नलिखित अपरिहार्य हैं:

आधुनिक विश्व एवं उससे उत्पन्न होने वाले सामाजिक एवं बौद्धिक वेगों की सुस्पष्ट समझ पैदा करें। भारतीय संदर्भ में किसी भी नागरिक के दैनिक जीवन में इसका पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध है; परंपरा और आधुनिकता के बारे में संकल्पना सम्बन्धी स्पष्टता की स्थिति को ग्रहण करें। परंपरा एक दुधारी तलवार है; इसका उपयोग परिवर्तन से वंचित करने तथा उसको उचित ठहराने, दोनों के लिए किया जाता है; इस प्रकार परंपरा का वैकल्पिक उपयोग एक प्रमुख युद्ध क्षेत्र हैं। कुछ वर्ष पूर्व एक सऊदी विद्वान अब्दुल हमीद अबु सुलैमान ने 'मुस्लिम बौद्धिक बपौती या वह जिसे पवित्र मानता है' के विश्लेषण में मुस्लिम मन में बाधा उत्पन्न करने वाले 'मनोवैज्ञानिक अवरोधों' की ओर ध्यान आकर्षित किया था। परंपरा और आधुनिकता को बदलने की आवश्यकता है; अतः एक अन्य विद्वान की सूत्रीकरण की बात पर ध्यान दिए जाने की जरूरत है: "आधुनिकता को परंपरा के अंधियारे को दूर करने वाले प्रकाश के स्रोत के रूप में देखने की बजाए हमें परंपरा की कल्पना एक ऐसी किरण के रूप में करनी चाहिए जो कि आधुनिकता के प्रिज्म से अपवर्तित हुई है";

विश्व के विभिन्न भागों में समसामयिक इस्लामी विचारधारा और भारतीय मुस्लिम समाज की समसामयिक समस्याओं को दूर करने के लिए उनका उपयोग करने की स्वेच्छा के आलोक में इज्तिहार और मसलहा की संकल्पनाओं को समझें। उदाहरणस्वरूप, मोहम्मद अरकौन ने ऐतिहासिक स्थिति पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता के बारे में आग्रह किया है ताकि 'आलोचनात्मक विचार, जो आधुनिकता के आधार पर खड़ा है किंतु खुद आधुनिकता की आलोचना करता है और इस्लामिक उदाहरण का सहारा लेते हुए इसकी समृद्धि में योगदान करता है' के द्वारा सामाजिक आंदोलनों में एक नए युग का सूत्रपात हो सके। वह पद्धति

जिसके माध्यम से इंडोनेशिया, मलेशिया, ईरान और तुर्की जैसे एशियाई मुस्लिम समाजों ने ज्ञान और लैंगिक असमानता के प्रश्नों का समाधान निकाला है, का अध्ययन करने या शायद अनुसरण किए जाने की आवश्यकता है।

उपर्युक्त के आधार पर शिक्षा एवं सामाजिक सुधार के संपोषणीय कार्यक्रम के द्वारा अज्ञानता और गतिरोध की बुराइयों का सामना करने के लिए एक ठोस प्रयास किया जाए। ऐसे प्रयास को प्रगति में अवरोध उत्पन्न करने वाले रिवाजों, विशेषकर धर्म पर सूक्ष्म रूप से आधारित सामाजिक रिवाजों के स्वायत्त सुधार पर ध्यान केन्द्रित करने की आवश्यकता होगी। जिन क्षेत्रों पर प्राथमिकता से ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है वे हैं शिक्षा के प्राथमिक एवं माध्यमिक स्तरों, बालिकाओं की शिक्षा, व्यावसायिक प्रशिक्षण तथा नागरिकों के अधिकारों और उन्हें विधि द्वारा उपलब्ध किंतु व्यवहार में अक्सर वंचित सुविधाओं से संबंधित व्यापक जागरूकता कार्यक्रम। परोपकार की भावना पर अधिक बल देकर दान-पुण्य की पारंपरिक पद्धति को पुनः अनुप्राणित करें तथा समुदाय को अधिकतम लाभ प्रदान करने के लिए औकाफ के प्रबंधन में नई गतिशीलता पैदा करें। सच्चर समिति के अनुसार देश में कुल 4.9 लाख वक्फ हैं, जिनका वर्तमान बाजार मूल्य 1.2 लाख करोड़ रुपए (1200 बिलियन रुपए) है। इनमें से कुछ संपत्तियां प्रतिकूल कब्जे में हैं और इन्हें पुनः प्राप्त करने में राज्य को मदद करनी चाहिए। इनमें से अधिकांश संपत्तियों का व्यक्तियों तथा संस्थाओं द्वारा दुरुपयोग किया जा रहा है; यदि इनका दक्ष तथा विपणनयोग्य उपयोग किया जाए तो कम से कम 10 प्रतिशत प्रतिफल मिल सकता है, जो कि लगभग 12,000 करोड़ रुपए प्रति वर्ष है।

देश के विभिन्न भागों में विद्यमान व्यक्तिगत तथा सामुदायिक प्रयासों की सफलता की कहानियों का प्रचार करें।

उपर्युक्त में से कोई भी संविधान के अनुच्छेद 14, 15(4) और 16 (4) की रूपरेखा के भीतर राज्य द्वारा सकारात्मक कार्रवाई के लिए सुलिखित तथा उचित मांगों तथा सच्चर रिपोर्ट के अनुसरण में सरकार द्वारा घोषित विभिन्न कार्यक्रमों को प्रतिस्थापित या हल्का नहीं करेगा। इसके स्थान पर ये एक ऐसी महत्वपूर्ण नींव बन सकते हैं, जिसके आधार पर इन योजनाओं से अधिक से अधिक लाभ प्राप्त किए जा सकते हैं।

हमें यह याद रखना होगा कि किसी भी उपचार पद्धति में रोगी का सहयोग अनिवार्य है।

हमें स्वयं को यह याद दिलाना होगा कि आज के भारत में समय अत्यंत महत्वपूर्ण है। हम संगत पंक्तियों का लाभ उन्हें गुनगुनाकर उठा सकते हैं:

अग्यार मेहर ओ माह से भी आगे निकल गए
उलझे हुए हैं सुबह की पहली किरण में हम

देवियो और सज्जनो,

परिवर्तन की पद्धति क्या हो सकती है? इसके प्रवर्तक कौन हो सकते हैं? कार्ल मार्क्स ने लिखा है कि सामाजिक संबंधों में परिवर्तन लाने में मध्य वर्ग ने सबसे क्रांतिकारी भूमिका निभाई है। तथापि, मुस्लिम मध्यम वर्ग कमजोर है और इसलिए सामाजिक परिवर्तन के एजेंट के रूप में संकोचशील है। मुस्लिम महिलाओं के संबंध में साक्षरता और विकास का अंतर इस कमी को और बढ़ा देता है; इसी तरह शारीरिक और आर्थिक असुरक्षा के अनुभव भी इस कमी को बढ़ाते हैं।

इस प्रकार, संख्या की दृष्टि से सबसे बड़ा हिस्सा रखने वाले युवाओं, जो अपनी मांगों और आकांक्षाओं को बेहतर समझ सकते हैं, में से ही मुख्य रूप से उभरने वाले जमीन से जुड़े नए सामुदायिक नेता ही परिवर्तन के एजेंट हो सकते हैं। हाशिये पर रहने वाले लोगों के सशक्तीकरण के लिए उनके प्रयासों को राज्य से वैध मांगों तथा समुदाय के आंतरिक संसाधनों को जुटाने अर्थात् इन दोनों पर केंद्रित करना होगा। सर्वोपरि, इसमें मौलाना आजाद द्वारा अक्टूबर, 1947 में दी गई इस सलाह को आत्मसात करने की आवश्यकता होगी:

"तब्दीलियों के साथ चलो, ये न कहो कि हम इस तगईयुर के लिए तैयार न थे।"

मैंने अपना भाषण जहां से आरम्भ किया था वहीं समाप्त करूंगा अर्थात् जामिया मिलिया इस्लामिया की भूमिका से। हाल के वर्षों में इसकी उपलब्धियां उल्लेखनीय रही हैं। इसने यह दिखा दिया है कि वह नए विचारों और सृजनात्मक पद्धतियों के प्रति ग्रहणशील है। यह संस्था अब देश के शैक्षणिक मानचित्र का एक अभिन्न भाग है। इतनी दूरी तय करने के बाद क्या जामिया समुदाय में कुछ लोग अब एक बृहत्तर लक्ष्य के बारे में, जो कि उसके मूल मिशन का एक भाग था, भी विचार कर सकते हैं, जो कि जाकिर साहब ने इतनी निपुणता से स्पष्ट किया था? ऐसे प्रयास में सफलता से भारतीय मुसलमानों को लाभ होगा और भारत खुद भी समृद्ध होगा।

अंत में, मैं उन युवतियों और युवाओं को बधाई देता हूँ, जिन्हें आज औपचारिक रूप से सम्मानित किया गया है और जो अकादमी के परिसर को छोड़कर बाहर के कठोर विश्व में प्रवेश कर रहे हैं उन्हें सदैव अपना उत्साह और अपनी सकारात्मकता को कायम रखना होगा। उन्हें यह याद रखना होगा कि ज्ञान का क्षितिज सदैव पीछे हटता जाता है; अतः उस तक पहुंचने का प्रयास विश्वविद्यालय की डिग्री हासिल करने के साथ ही समाप्त नहीं होता। इसके विपरीत, एक नए भारत के निर्माण के एक अत्यन्त बड़े सहभागिता वाले उद्यम का एक पहला कदम है।

धन्यवाद।